कर्म चक्र से सिद्ध चक्र

–विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया
(एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.)

प्राण एक अविनाशी तत्त्व/द्रव्य है। प्राण जब पर्याय धारण करता है तब वह प्राणी कहलाता है। प्राणी अनादि काल से जन्म-मरण के दारुण दुःखों को भोग रहा है। भव-भ्रमण की कहानी लम्बी है।

जन्म-मरण, आना-जाना तथा करना-धरना परक आवृत्ति जब रूप धारण करती है, तब चक्र का जन्म होता है। प्राणी जब अपने कर्म द्वारा चक्र का संचालन करते हैं तब वह कहलाता है–कर्म-चक्र। कर्म-चक्र का अपर नाम है संसार-चक्र। कर्म-वैविध्य को आठ भागों में अथवा प्रकारों में विभक्त किया गया है। यथा–

१. दर्शनावरणी कर्म
२. ज्ञानावरणी कर्म
३. मोहनीय कर्म
४. अन्तराय कर्म
५. वेदनीय कर्म
६. आयु कर्म
७. नाम कर्म
८. गोत्र कर्म

इनको शास्त्रीय विधान से दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है–यथा

१. प्रथम चार कर्म-कुल को घातिया कर्म खहा गया

२. अन्तिम चार कर्म-कुल को अघातिया कर्म कहा गया।

घातिया कर्म आत्मा के स्वभाव को आवरित कर उसका घात करने का भयंकर काम करते हैं। जीव जब अपने स्वभाव को जानने-मानने से विमुख हो जाता है, तब उसका भटकना प्रारम्भ हो जाता है। मोहनीय कर्म कुल की भूमिका उसे पथ भ्रष्ट होने में टॉनिक का काम करती है। दर्शन का आवरण होने पर जब ज्ञान का भी आवरण हो जाता है तब पथभ्रष्टता का पोषण होने लगता है। भ्रष्ट से उत्कृष्ट की ओर कहीं मुड़ने न लगे, इस अवसर और आशंका को निर्मूल करते हैं अन्तराय कर्म। अन्तराय कर्म शुभकर्मों में बाधा प्रस्तुत करते हैं।

दर्शनावरणी कर्म कुल चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, सत्यान और गृद्धि दश रूपों में सक्रिय होते हैं। ज्ञानावरणी कर्म मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय तथा केवल ज्ञान विषयक पाँच रूपों में आवरित कर सक्रिय होते हैं। मोहनीय दर्शन और चारित्ररूप में सक्रिय रहते हैं। दर्शन मोहनीय में ये कर्म मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा मिश्र रूप में तथा चारित्र मोहनीय में ये कर्म क्रोध, मान, माया और लोभ नामक कषाय कौतुक में पोषित होते रहते हैं। यहाँ इनका पोषण बंध अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलन कोटि में होता रहता है। इसके अतिरिक्त चारित्र के अन्तर्गत नौ नोकषाय भी सक्रिय रहती हैं–यथा

१. रति
२. अरति
३. भय
४. शोक
५. जगुप्सा
६. स्त्रीवेद
७. पुरुषवेद
८. नपुंसकवेद
९. हास्य।

इस प्रकार मोहनीय कर्मकुल कुटिल और कठोर होते हैं। इनसे उबरना सामान्यतः सरल नहीं है। बड़ी बारीक पकड़ होती है मोह की।

अन्तराय कर्म में वीर्य, उपभोग, भोग, लाभ, दान परक रूप भेद में कर्म कौतुक सक्रिय रहते हैं। वेदनीय कर्म साता और असाता रूप मे, आयुकर्म–देव, मनुष्य तिर्यंच, नरक रूप में, नाम कर्म कुल स्थावर दशक, प्रत्येक प्रकृति. त्रस दशक और पिण्ड प्रकृति रूप में तथा गोत्रकर्म ऊँच और नीच रूप में सक्रिय रहते हैं।

कर्मचक्र शुभ और अशुभ रूप में सतत सक्रिय रहता है। शुभ कर्मों की अपेक्षा अशुभ कर्म निर्बाध रूपेण सक्रिय रहते हैं। प्राणी अपनी अज्ञान दशा में आस्रव को सदा खुला रखता है। कर्म बँधते-रहते हैं और इस प्रकार कर्मचक्र सदा चिरंजीवी रहता है।

संसार में प्राणी जब इन वसु कर्मों के कौतुक में सक्रिय रहता है तब वह कहलाता है बहिरात्मा। बहिरात्मा पर-पदार्थों को अपना समझता है। वह उन्हीं को कर्म का कर्त्ता, हेतु तथा भोक्ता भी मानता है। इस प्रकार उसकी चर्या में मिथ्यात्व का एकछत्र साम्राज्य रहता है। कर्मचक्र से छुटकारा पाना कोई एक-दो भव की साधना का परिणाम नहीं होता। भव्य जीव ही कर्म चक्र से छूटने का शुभ संकल्प किया करते हैं। अभव्य सदा कर्म चक्र में ही अवगाहन करते रहते हैं। कर्मचक्र वस्तुतः थर्राने वाला चक्र है। मनुष्य और तिर्यंच गति की दारुण दास्तान तो प्रत्यक्षतः सुनने और देखने में आती ही है। नरक गति का रौरवपूर्ण वातावरण दिल दहला देता है। नरक गति से भी अधम अवस्था है निगोद। यहाँ जीव परम मूढ़ता के साथ अनन्त अवधि तक जीता-मरता रहता है।

निगोद से निकल कर जब प्राणी किसी प्रकार जब कभी मनुष्य गति प्राप्त करता है तब, उसके विकास की सम्भावना बढ़ जाती है। यहाँ आकर वह कर्मचक्र को समझने का सुअवसर प्राप्त करता है और तब अपने को धर्मचक्र की ओर अग्रसर होने का सुअवसर प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार कीजिए धर्म वस्तुतः एक शाश्वत द्रव्य है। इसके उदय होने से प्राणी की दशा और दिशा में आमूलचूल परिवर्तन होने लगता है। धर्म चक्र में प्रवृत्त होने पर प्राणी स्व और पर-पदार्थ का स्पष्ट अन्तर अनुभव करने लगता है। उसे संसार के प्रत्येक पदार्थ की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्राणी के सोच और समझ में युगान्तर उत्पन्न होने लगता है।

धर्म चक्र में प्रवृत्त प्राणी की दृष्टि में प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव होता है। वह स्वभाव ही वस्तुतः उस पदार्थ का धर्म कहलाता है। प्रत्येक प्राणी अपने कर्म का स्वयं ही कर्त्ता होता है अर्थात् उसकी मान्यता मुखर हो उठती है कि उपादान एवं निमित्त के सहयोग से ही कर्म का सम्पादन होता है। यह भी स्पष्ट है कि अपने कर्मानुसार ही प्राणी को निमित्त जुटा करते हैं। उसकी दृष्टि में निमित्त का जुटना पर-पदार्थ की कृपा का परिणाम नहीं है। कर्म बँधते हैं और जब उनका परिणाम उदय में आता है तब शुभ अथवा अशुभ परिणाम वह बड़ी सावधानीपूर्वक स्वीकार करता है। शान्ति पूर्वक भोगता है। शुभ अथवा अशुभ परिणाम को वह किसी दूसरे के मत्थे नहीं मड़ा करता है। इतना बोध और विवेक धर्मचक्र में संश्लिष्ट प्राणी की अपनी विशेषता होती है। धर्मचक्र में सक्रिय प्राणी की आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है।

अन्तरात्मा मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व के साथ धर्मचक्र को बड़ी सावधानीपूर्वक समझता और सोचता है कि कर्म-बन्ध से किस प्रकार मुक्त हुआ जा सकता है। कर्म-बन्ध की प्रकृति के अनुसार वह संयम और तपश्चरण में प्रवृत्त होता है। अपने भीतर संयम को जगाता है और कर्म की निर्जरा हेतु वह अपने पूरे पुरुषार्थ का उपयोग करता है। यह उपयोग वस्तुतः उसका शुभ उपयोग कहलाता है।

शुभोपयोग की स्थिति में प्राणी धर्म को अपनी चर्या में चरितार्थ करता है। सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र पूर्वक वह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु में श्रद्धान जाग्रत करता है। इसी श्रद्धान से अनुप्राणित चर्या–मोक्ष-मार्ग–पर चलने का भाव बनाती है। ऐसी स्थिति में प्राणी की आत्मा वस्तुतः अन्तरात्मा का रूप धारण कर लेती है। उसकी जागतिक चर्या वस्तुतः व्रत-विधान हो जाती है। व्रत-साधना से उसकी चित्तवृत्ति में इन्द्रिय भोगों के प्रति विरति भावना उद्भूत होती है और संयम के संस्कार परिपुष्ट होते हैं।

तीर्थ वंदना, गुरु वंदना और शास्त्र वंदना अर्थात् स्वाध्याय सातत्य से उसका अन्तरंग धर्ममय होने लगता है। ऐसी स्थिति में उसकी इन्द्रियाँ भोग के लिए बगावत करना छोड़ देती हैं। वे वस्तुतः योग के प्रयोग की पक्षधर हो जाती हैं।

धर्मचक्र से प्राणी की चर्या षट् आवश्यक और पंच समिति सावधानी से वस्तुतः मूर्च्छा मुक्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में आत्म-गुणों के प्रति वंदना करने के शुभभाव उसमें रात-दिन जाग्रत होते रहते हैं। ऐसे प्राणी की चर्या पंच परमेष्ठी की वंदना में प्रायः लीन हो जाती है। अन्ततः वह श्रावक से श्रमणचर्या में दीक्षित होकर अनगार की भूमिका का निर्वाह करता है। प्रतिमाएँ और गुणस्थानों को अपनी चर्या में चरितार्थ करता हुआ जैसे-जैसे वह अन्तरात्मा ऊर्ध्वमुखी होता जाता है, वैसे-वैसे मानो वह परमात्मा के द्वार पर दस्तक देने लगता है। उसके उत्तरोत्तर विकास–चरण उस सीमा को लाँघ जाते हैं जहाँ पर शुद्धोपयोग पूर्वक केवल ज्ञान को जगाता है। ज्ञान जब केवल ज्ञान में परिणत हो जाता है तब धर्मचक्र की भूमिका प्रायः समाप्त होकर सिद्ध चक्र की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

सिद्ध चक्र का प्रारम्भ होते ही प्राणी अपने घातिया कर्मों का समूल नाश कर लेता है। घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर ही उसमें केवल ज्ञान का उदय होता है। इसके उपरान्त अघातिया कर्म भी क्षय होने लगते हैं फिर भी यदि आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य अघातिया क्षय होने से शेष रह जाते हैं तो साधक समुद्घात करके उसे भी क्षय कर लेता है और अन्ततः वह सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है। सिद्ध चक्र तक पहुँचने पर साधक कर्म चक्र और धर्म चक्र से मुक्त होता हुआ कर्म-बन्ध से वस्तुतः निर्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार वह जन्म-मरण के दारुण दुःखों से सर्वदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

पता :
मंगल कलश
३९४, सर्वोदयनगर
आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००१

● ●

❋ ऐसा कोई भी कार्य जिसके साथ पीड़ा और हिंसा जुड़ी है धर्म की संज्ञा कैसे पा सकता है?

❋ धर्म से वर्त्तमान और भविष्य दोनों सुधरते हैं।

–उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org